वास्तविक गुरु–दक्षिणा

स्वामी डा. विश्वामित्र

(गीता प्रेस, गोरखपुर द्वारा प्रकाशित ''कल्याण सितम्बर 2011)

जगद्गुरु तो सगुण निराकार जगदीश्वर ही हैं। अनेक सत्गुरुओं के रुप में जन्मे, उन्हीं एक के विभिन्न स्वरुप हैं। परमगुरु परमात्मा उनके माध्यम से शिष्यों को नाम–दान दिलवाते हैं, गुरुमन्त्र की दीक्षा दिलवाते हैं, उन्हें अपने से भी बड़ा स्थान दिलवाते हैं। उन्हीं के मुखारविन्द से यह उद्घोष है–''मोतें संत अधिक करि लेखा।'' (रा.च.मा. 3/35/2) अर्थात संतों को मुझसे भी अधिक करके मानना। क्यों ? नाम–दान शिष्यों को स्वयं न देकर, शरीरधारी गुरुओं से दिलवाते हैं और शिष्यगण दीक्षा लेकर, गुरुओं को उपहार देते हैं, जिसे गुरु–दक्षिणा कहा जाता है। ये सामग्री प्रायः धन, वस्त्र, खाद्य–पदार्थों अथवा अन्य दैनिक प्रयोग की वस्तुओं के रुप में होती है। सच्चे सद्गुरु–संत व परमगुरु परमात्मा को शिष्यों से कैसी दक्षिणा अपेक्षित है, कुछेक दृष्टान्तों के माध्यम से उसी का उल्लेख प्रस्तुत है :–

1. विद्याध्ययन समाप्त होने पर श्रीकृष्ण ने गुरु सांदीपनि के चरणों में प्रार्थना कीः ''गुरुदेव ! आज्ञा करें, श्रीचरणों में क्या गुरुदक्षिणा दूं ? क्या सेवा करुं?'' गुरुदेव बोले :''मुझे तो कुछ नहीं चाहिए, कोई आवश्यकता नहीं।'' ''गुरुदेव ! आपको कोई आवश्यकता नहीं, लेकिन मुझे तो गुरु–दक्षिणा देकर सेवा करने की आवश्यकता है''। ''अच्छा ! तो अपनी मां से पूछ, उसे क्या चाहिए?'' श्रीकृष्ण ने गुरु–पत्नी से

पूछा''आपकी क्या सेवा करुं?'' ''कृष्ण! तू हमारा सबसे समर्थ विद्यार्थी है। मेरा बेटा यमलोक चला गया है, मुझे वह ला दे''। श्रीकृष्ण ने नियति की मर्यादा को तोड़कर यमपुरी से गुरु–पुत्र को लाकर मां की गोद में रख दिया। कितना महत्व है गुरु–दक्षिणा का, गुरु–शिष्य सम्बन्ध में। इसकी पूर्णता के लिए शिष्य को नाम–दान, गुरुमन्त्र या विद्या–प्राप्ति के बाद गुरु को किसी न किसी रुप में गुरुदक्षिणा का देना अनिवार्य है।

2. महात्मा शुकदेव मां के गर्भ में ही आत्म–ज्ञानी, 14 कला संपूर्ण, बाहर निकलने से इन्कार करें, कहें–''मैं माया से अलिप्त रहना चाहता हूं''। भगवानश्री ने माया की गति को पांच पल के लिए रोका, तब शुक गर्भ से बाहर निकले। वैराग्य इतना प्रबल, जन्मते ही जंगल में। जब कभी विष्णुपुरी जाना चाहते, भीतर प्रवेश न मिलता, धक्के मिलते, शुक निगुरा है तथा ज्ञान का अभिमानी है। अतएव पिता, महर्षि व्यासदेव जी ने पुत्र को राजा जनक के पास भेजा। मन में संशयजन्य कई प्रश्न–वह राजा मैं ऋषि, वह गृहस्थ मैं त्यागी, वह क्षत्रिय मैं ब्राह्मण, वह भोगी मैं योगी–संन्यासी, मैं ऐसे राजा जनक को गुरु कैसे बनाऊं? अनेक बार गये परन्तु वापस लौट आते। कमाई वाले संत–महात्मा की निंदा से, उनमें दोष–दर्शन से अपनी कमाई लुटती है। शुक 14 कला से दो कला सम्पन्न रह गए। देवर्षि नारद इन्हें शिक्षा–देने हेतु, एक वृद्ध का रुप धारण करके, एक पानी के नाले में मिट्टी डाल रहे थे। बहते जल में मिटट्ी ठहरे न। शुक ने उधर देख पूछा–''क्या कर रहे हो'' ? वृद्ध ने उत्तर

दिया–''बांध बना रहा हूं।'' ''मूर्ख कहीं का–क्या बांध ऐसे मिटट्ी फैंकने से ही निर्मित हो जाता है''? वृद्ध ने तत्काल मुंह घुमाकर कहा–''मूर्ख मैं नहीं, मूर्ख तो वह शुकदेव, उसकी मूर्खता देखो, अभिमानवश उसने अपनी बारह कला व्यर्थ खो दीं''। शुक एकदा तो सुनते ही बेहोश हो गए, होश आया, उठे और सीधे राजा जनक के पास पहुंचे।

''श्रद्धा सुभक्ति प्रेम से, आया जनक समीप।
जो था आत्म जगत में,धर्म पोत का द्वीप।।

द्वारपाल द्वारा कहला भेजा–

''राजन !शुक आया यहां, लिए प्रेम की प्यास।
दर्शन दो करके दया, तारो बेड़ा पार।''
अवस्था यौवन जानकर, दी आज्ञा मिथिलेश।
डयोढ़ी पर ही ठहरिए, तीन रात तक शेष।।
सुन आज्ञा शुकदेव ने, किया पालन तत्काल।
खड़ा रहा त्रिदिवस तक, पड़ी न त्यौड़ी भाल''।।

(भक्ति–प्रकाश)

इसी प्रकार अन्तःपुर में तीन–दिवस–रात तक और ठहरने को कहला भेजा, वहां भी शीतकाल में, उपवास रखे हुए शुक रुके रहे। वहां नारियों का स्वछन्द आना–जाना भी बना रहा, पर शुक तो भक्ति–लगन में मग्न, मस्त रहे। अब नृप ने पधारने का कारण पूछा ?

''हाथ जोड़कर जनक को, बोला शुक मुनिराज।
आत्म–ज्ञान सुभक्ति पथ, मुझे दीजिए आज''।।

(भक्ति–प्रकाश)

सद्गुरु महाराजा जनक ने शुकदेव को अधिकारी

जानकर, पुण्य–पात्र मानकर हरि–नाम की दीक्षा दी। कुछ दिन श्रीगुरुचरणों में बैठ कर साधना की, सब संशय दूर हुए। शिष्य ने गुरुदेव को गुरु–दक्षिणा देनी चाही। ''वत्स ! मुझे कुछ नहीं चाहिए।'' आग्रह करने पर, तथा गुरु–दक्षिणा की अनिवार्यता स्पष्ट करने के लिए, राजा जनक ने कहा'' तुम्हारी दृष्टि में जो निरुपयोगी है, वह मुझे दे दो।'' शिष्य ने सोच विचार कर मिट्टी उठाई। तत्काल बोली–''मैं नदियों, सागर, पर्वतों को, महलों–मकानों को देह दान देती हूं। प्रत्येक प्राणी को अन्न, फूल, फल, ईंधन देती हूं। मैं व्यर्थ कैसे''? उसे फेंक पत्थर उठाया वह बोला–''मुझ से मकान, महल, किलों का निर्माण होता है, मैं व्यर्थ नहीं।'' शुकदेव जी का माथा ठनका–देहाभिमान ही दोषी है, निरुपयोगी है, इसी से संसार में बन्धन है। अतः प्रत्येक शिष्य को अपना कर्तृत्व अर्थात कर्तापन का अभिमान, अपना अहं ही श्रीगुरुचरणों में गुरु–दक्षिणा के रुप में चढ़ाना चाहिए। गुरुदेव सद्शिष्य से मांगते भी यही हैं।

3. संत तुकाराम अपने शब्दों में अपने बारे में रहस्यपूर्ण बातें बतलाते हैं–''कथावार्ता सुनते सुनते मेरी प्रीति प्रभु से हो गई। मैं विठ्ठल भगवान् का उपासक बन गया, उनके नाम का सतत् जाप करने लगा। प्रभु को मुझ पर दया आई, स्वप्न में सद्गुरु मिले। मैं गंगा–स्नान करके लौट रहा था, रास्ते में मिलन हुआ। कहा–''मैं भगवान् विठ्ठलनाथ की प्रेरणा से आपको उपदेश देने आया हूं।'' मैंने कहा–''मैंने तो प्रभु की कोई सेवा नहीं की, कितने दयालु हैं वे। राम–कृष्ण–हरि मंत्र दिया और गुरु दक्षिणा में पाव–भर तूप(घी) मांगा।

तुकाराम स्पष्ट करते हैं–तूप का वास्तविक अर्थ है–मैं–मेरापन अर्थात अहंता–ममता, घी नहीं। समझाया–तू न पुरुष है न स्त्री, तू तो आत्मा है, उस अंशी अविनाशी का अंश। देह के सारे भाव मुझे अर्पण कर दे अर्थात अपनी अहंता(अपना अहं) मुझे दे दे''।

4. गुरु नानक देव भ्रमण करते करते, एक नगर में पहुंचे। वहां के राजा दर्शनार्थ पधारे, अति प्रभावित हुए। अतः कुछ भेंट करने की उत्कट–इच्छा व्यक्त करते कहा–''बाबा ! मैं कुछ देना चाहता हूं।'' ''राजन ! जो तेरा अपना हो सो दे दो।'' सोना, चांदी, हीरे, जवाहरात सब आगे रख दिए, कृपया स्वीकार करें। ''ये सब तो आपके नहीं, तेरे से पूर्व पिता के, उनसे पहले दादा के और तेरे बाद तेरे पुत्र के हो जाऐंगे। तेरे मरणोपरान्त यहीं छूट जाएंगे, तो तेरे कैसे हुए? तेरा शरीर भी यहीं छूट जाएगा, यह भी तेरा नहीं। मन भी तेरा नहीं, क्यों? तू तो यहां बैठा है और मन कहीं और घूम रहा है। अपनी वस्तु पर तो नियन्त्रण होता है, मन तो दिन रात भटकता है। तू तो भजन–पाठ के लिए बैठा है, अर्थात शरीर तो सत्संगति में बैठा, पर मन मार्किट में, या घर परिवार के साथ। राजन ! बुद्धि भी तेरी नहीं, तेरी हो तो सदा सही निर्णय ले। उसमें तो अज्ञान भरा पड़ा है, तभी तो सत् को असत् और दुःखदायी वस्तु को सुखदायी बताती है। यही माया है।'' ''बाबा ! फिर आप ही बताओ–क्या दूं''? ''राजन ! जब राजा जनक के सामने भी ऐसी ही समस्या थी–महर्षि याज्ञवल्कय से उपदेश की प्रार्थना की थी, जिससे मन–बुद्धि वश में रहें–

''हाथ जोड़ विनती की भारी,
ज्ञान दान दो, हूं अधिकारी।
ऋषि बोला—राजन बड़भागी, वैरागी तू ही है त्यागी।
ध्यान यजन अब आप रचाओ, दक्षिणा देकर चित्त टिकाओ।''

राजा ने गुरु—दक्षिणा देते हुए प्रार्थना की—''महर्षि ! सारा राज्य ले लें।'' ''ये तो तेरा नहीं, पूर्वजों का था और तेरे पास भी नहीं रहेगा। ऐसी वस्तु दो जो तेरी हो।'' ''कृपया धन ले लें।'' ''वो भी तेरा नहीं राजन ! बहुधा भाग पिता का, शेष प्रजा का। तेरा कैसे? घोड़े, हाथी, गाड़ियां भी आपके नहीं, आज आपके पास, कल दूसरे के पास। राजन! तेरा तो तन भी नहीं, मुर्दा हो यहीं छूट जाता है। मन की दक्षिणा दो।'' गुरु नानक इसे अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं—''यह जो कह रहे हो—मैं धन देता हूं, राज्य, तन, मन, बुद्धि देता हूं, ये सब अपने पास रखें, मुझे ''मैं'' दे दें। यदि दे दिया, तो सब कुछ मिल गया और यदि ''मैं'' नहीं दिया, तो सब कुछ देने पर भी कुछ नहीं दिया''। महर्षि याज्ञवल्कय राजा जनक से उनका मन मांगते हैं तो

''शुभ भक्ति में जनक जी बोले,
मेरे मन मुनिवर का हो ले।
ऋषि बोला आशीष हो मेरा,
स्वीकृत किया दान ही तेरा।''
आत्मज्ञान हुआ अब जानो,
सफल यजन राजन यह मानो।
वह बोला—सुन गुरुवर प्यारे, उड़े वासना पंख पसारे।
न स्थिरता मन में है आई, चंचलता की है अधिकाई।

मुनि बोला– है दान अधूरा, इससे टिका न मन तव पूरा।

दिया दान मन अब न डुलाओ,
मेरा मन न काम में लाओ।
मन अपना मानो अब मेरा,
राज काज करिए बहुतेरा।
मौन मूर्ति स्थिर ही हो के,
शान्त हुआ संशय सब खो के।
निश्चल मन अडोल थी काया,
मिटी सकल ही मन की माया।

(भक्तिप्रकाश पृ. 285–286)

ऋषि ने आशीर्वाद देते कहा–''हे राजन ! आपका मन प्रसाद रुप में लौटाता हूं, इसे अपना न मान, मेरा मानते हुए राज्य भी करें और श्री राम–भजन भी। राजा जनक विदेह हो गए।

5. तिब्बत की सच्ची घटना–एक शिष्य गुरुदेव के पास पहुंचे, दीक्षा की याचना की। कहा–''यहां सैंकड़ों शिष्य, आपके लिए स्थान रिक्त नहीं''। ''गुरुदेव ! कृपा करें, मैं कहीं भी इधर–उधर पड़ा रहूंगा।'' ''अच्छा, तू सबके भोजन हेतु चावल कूटा कर''। शिष्य ने गुरु–आज्ञा शिरोधार्य कर दिन–रात यही काम किया। न शिष्य कभी गुरु के पास गया और न ही गुरु कभी शिष्य के पास पधारे। अनेक वर्ष बीत गए, गुरु–देव के निर्वाण का समय आ गया। गुरुपद प्रदान करना चाहते अतः शिष्यों से कहा–''जो वर्षों यहां शिक्षा ग्रहण की, उसका सार लिख कर दें।'' लगभग सभी

ने यही लिखा–''मन एक दर्पण है, गुरु उस पर जमी धूल को साफ कर देते हैं।'' गुरु अप्रसन्न एवं असन्तुष्ट। अतः कहा–''उस चावल कूटने वाले को भी एकदा पूछ लो''। सब गए, पूछने पर उत्तर दिया–''बन्धुओ ! मैं अनपढ़, लिख नहीं सकता, परन्तु आप सबने क्या लिखा''? जो अधिकांश ने लिखा था, बतला दिया। तब कहा– ''भाईयो ! जब गुरु मिल गया, तो मन अपने पास कहां रहा ? गुरु तो मन के लुटेरे हैं, हम तो उनका मन प्रयोग करते हैं अर्थात सब कुछ के लिए सद्गुरु जिम्मेदार''। सुन कर प्रथम व अन्तिम बार गुरु महाराज शिष्य के पास पधारे, गुरु पद प्रदान किया और स्वयं निर्वाण को प्राप्त हो गए।

उक्त वर्णित दृष्टान्तों से गुरु दक्षिणा की अनिवार्यता सिद्ध हो जाती है। गुरु–दक्षिणा भेंट करके शास्त्रीय पद्धति के अनुसार गुरु–शिष्य सम्बन्ध सुपुष्ट हो जाता है। शिष्यों के श्रीगुरुचरणों में गुरु–दक्षिणा के रुप में देहाभिमान की भेंट या अहं की भेंट अथवा मन को सैद्धान्तिक रुप से समर्पित कर दिया किन्तु, इन सब का क्रियात्मक रुप क्या होगा ?

1. महात्मा बुद्ध ने एकदा कहा–''भिक्षुओ ! आज से चार माह बाद परि–निर्वाण हो जाऊंगा, यह शरीर तब आपके मध्य में नहीं रहेगा, अतः जो करने योग्य है, उसे शीघ्र करो, देरी के लिए अब समय नहीं।'' सकल संघ महा–विषाद में डूब गया, रोते, धोते, छाती पीटते, बिलखते, गहरी सोच में डूब गए–अब क्या होगा? सभी चिन्ताग्रस्त थे कि व्यवस्था कैसे चलेगी? तिष्य नामक शिष्य खबर सुनने

के बाद न रोये, न चिल्लाये, मौन हो गए। साथी सोचें, इसे इतना गहरा सदमा (धक्का) कि इसने बोलना तक बन्द कर दिया। भय, कि कहीं पागल न हो जाए। तिष्य अपने सद्व्यवहार के कारण, सर्वाधिक प्रिय, चुप्पी की सूचना गुरुदेव के पास पहुंची कि तिष्य ने कछुए की भान्ति अपने आपको भीतर समेट लिया है। बुलाया शिष्य को, श्रीचरणों में मस्तक नवाया। बुद्ध ने कहा–''वत्स ! ये भिक्षु तुम्हारी भाव–दशा, मनः स्थिति के बारे में जानना चाहते हैं।'' तिष्य ने विनम्रतापूर्वक उत्तर दिया–''प्रभु ! आप जी के आदेश–''जो करने योग्य है, करो, देर मत करो,'' मैं उसीके यथासम्भव पालन की कोशिश कर रहा हूं। कृपा करें, मेरा संकल्प पूरा हो।'' अश्रु पूरित आंखें, तिष्य ने विनयपूर्वक निवेदन किया–''मेरे प्रभु ! हे करुणावान गुरुदेव ! निर्वाण से पूर्व मेरी ''मैं'' की मृत्यु हो जाए, इसके लिए बल भी दें तथा आशीर्वाद भी। अब न बोलूंगा, न हिलूंगा तथा न ही डोलूंगा। मुझे सारी शक्ति इसी पर लगानी है। हे दयालु ! कृपा करो, ताकि यह चार माह, जीवन की क्रान्ति के लिए लगा दूं, इस पार या उस पार हो जाऊं''। शिष्य की बातें सुन, प्रसन्नचित्त गुरु ने कहा–''हे भिक्षुओ ! तिष्य समान बनो। रोने, बिलखने से क्या होगा, पुष्प–माला से पूजा मेरी पूजा नहीं, जो कोई ध्यान के फूल रोज़ चढ़ाता है, वह असली पूजा करता है। अपने जीवन को साधनामय बनाना, दिव्य बनाना है मेरी वास्तविक पूजा। जो तिष्य को हुआ, वही तुम अपने में होने दो।''

गुरु आज्ञा, उनके आदेशों, उनकी शिक्षाओं का, परम्पराओं का अक्षरशः पालन, पवित्र जीवन–यापन के लिए

दृढ़ संकल्प होना, भगवन्नाम की कमाई अर्जित करना, सत्कर्मों की पूंजी अर्जित एवं संचित करना तथा सब प्राणियों में नारायण देख व गुरुसेवा की भान्ति उनकी सेवा करना, उनसे प्रेम–पूर्ण व्यवहार करना, स्वाध्याय करते रहना, तथा गुरु उपदेशों के प्रचार–प्रसार द्वारा उन्हें सत्संग के लिए प्रेरित करना, साधना के लिए प्रोत्साहित करना है वास्तविक गुरु पूजा। ऐसी पूजा रुपी सुमन समर्पित करते रहने के लिए अर्थात उक्त–वचनों के पालन के लिए वचन–बद्ध रहना है वास्तविक गुरु–दक्षिणा।

2. गंगा तट पर एक ऋषि का आश्रम, जहां अनेक शिष्य आध्यात्मिक शिक्षा ग्रहण करते। शिक्षा पूरी होने पर अपने अपने घर वापस चले जाते। जाते समय आचार्य से पूछते–''गुरुदेव ! गुरु दक्षिणा में क्या दें''? गुरु फरमाते–''तुमने जो पाया है, समाज में जाकर, उस पर अमल करना, विद्या को आचरण में लाना, अपने पैरों पर खडे होवो, सच्ची–सुच्ची कमाई करो और फिर एक साल बाद तुम्हारा जो दिल चाहे, वह दे जाना।'' शिष्य आश्रम छोड़ अपने अपने काम–काज से जो कमाई होती, उसमें से श्रद्धापूर्वक कुछ भाग निकाल गुरु महाराज को दे जाते। एकदा गुरुकुल में एक सीधा–सादा शिष्य आया, साधारण गृहस्थ था, दिन भर मेहनत करके अपने परिवार का पालन–पोषण करता। सीखने की तीव्र–इच्छा थी, अपने सद्व्यवहार से सबका दिल जीत लिया। ऋषि उसे स्नेहपूर्वक पढ़ाते, जो सीखता, उस पर मन से अमल करता, जो काम दिया जाता उसे अगले दिन पूरा करके लाता। जब शिक्षा पूरी हुई, तो उसने भी पूछा–''गुरुदेव!

दक्षिणा में क्या दूं?'' ऋषि ने उसे भी वही कहा जो अन्य शिष्यों से कहते। एक वर्ष बाद लौटा, चरणवन्दना की और श्रद्धा से बोला–''गुरुदेव ! गुरु दक्षिणा देने आया हूं।'' उसे देख गुरु प्रसन्न पूछा–'' बेटा! क्या लेकर आए हो''? दस लोगों को खड़ा कर दिया जो उसके गांव के थे। कहा–''गुरुदक्षिणा में इन्हें लाया हूं।'' ''किस लिए''? '' प्रभु जो शिक्षा आपने मुझे दी थी, उसे इन तक पहुंचाया, उतने से ही इनका जीवन संवर–सुधर गया, अब आप इन्हें अपना शिष्य बना लें ताकि इतने लोग और सन्मार्ग पर चल सकें।'' हर्षित ऋषि ने कहा–''तुमने मुझे सर्वश्रेष्ठ गुरुदक्षिणा दी है। बेटा ! तूने यहां से पाया भी सर्वश्रेष्ठ, बांटा भी सर्वश्रेष्ठ और मुझे भेंट भी सर्वश्रेष्ठ ही किया।''

सत्संग में पधारने का आशय भी यही कि संत–दर्शन से कामनाएं पूर्ण होंगी। नाम–दीक्षा भी इसी उम्मीद से लेते हैं कि हमारी भौतिक समस्याओं का समाधान होगा। कुछ समय नाम भी जपते हैं, तरह तरह की पूजा भी करते हैं, एक से निराश हो दूसरे का भी वरण करते हैं। आज वृंदावन, कल ऋषिकेश, परसों बालाजी भगवान के चरणों में हाज़री भरते हैं। जीवन भटकन में ही व्यतीत हो जाता है। ऐसों के लिए ही भक्त कबीर साहब फरमाते हैं–

''दुनिया देखो मस्त दीवानी, भक्ति भाव न बूझै जी।
कोई आवे तो बेटा मांगे, भेंट रुपया दीजै जी।
कोई आवे तो दुःख का मारा, हम पर कृपा कीजै जी।
कोई रचावे ब्याह–सगाईयां, संत गोसाईयां रीझै जी।
सच्चे को कोई ग्राहक नाही, झूठे जगत पसीजै जी।

कहे कबीर सुनो भई साधो, इन अन्धों का क्या दीजै जी।''

स्वामी सत्यानन्द जी जैसे सच्चे सन्त संसारियों की ऐसी मनोदशा देख फरमाते हैं–''भाई ! हमारी हालत तो ऐसी, जैसी अंधे ग्राहकों बीच दर्पण बेचने वाले दुकानदार की।'' ऐसों को न आध्यात्मिक गुरु के महत्व का बोध, न ही गुरु–दक्षिणा का। वे शिष्य तो गुरु एवं परमात्मा के साथ भी ऐसा ही व्यवहार करते हैं जैसे आपस में व्यापारी। संत भगवन्नाम जपने, भक्ति करने के लिए प्रेरणा देते हैं, मोक्ष–प्राप्ति के लिए साधना करो, मार्ग दर्शाते हैं, परन्तु कोई मानने व करने को तैयार नहीं। आशीर्वाद मांगते हैं, जाप–ध्यान, सेवा–सुमिरन नहीं करते।

संतों का अनुभव यही दर्शाता है, शिष्य बनना अति दुष्कर है। कोई विरला आध्यात्मिक जीवन में गुरु–स्थान को जानता है, कोई ही उसके सामर्थ्य को पहचानता है, किसी को ही बोध है–गुरु से क्या पाया जा सकता है, क्या मांगना है तथा क्या उनकी सेवा में अर्पित करना है ? एक युवक जिज्ञासु घूमता घूमता नेपाल के पर्वत की घाटी में पहुंचा, जहां एक वृद्ध सन्त शिला पर बैठे दिखे। ध्यानस्थ थे, प्रतीक्षा की, दण्डवत् प्रणाम किया, परस्पर परिचय हुआ। सूर्य अस्त का समय था, युवक से संत ने कहा–''वत्स ! मेरे पांव में इतना बल नहीं कि स्वयं पहाड़ पर चढ़ कर अपनी गुफा तक पहुंच सकूं। कृपया मेरी सहायता करो, अपने कन्धों पर उठा कर पहुंचाने का कष्ट करो।'' कठिन चढ़ाई, उठा लिया युवक ने, रात्रि 11 बजे पहुंचे। वृद्ध को उतार कर हांफते हुए युवक ने सविनय पूछा–''महात्मन् !कोई और

सेवा'' ? संत अपार हर्षित, महान योगी थे, सिद्धियों के स्वामी थे, अपनी योग–शक्ति से रुपयों के, नोटों के बोरे बनाये और युवक को बोले–''पुरस्कार रुप में जितना उठाना चाहो, उठा लो।'' युवक ने कहा–''हे प्रभु ! ये सब तो मैं छोड़ कर आया हूं, इससे क्या जीवन का रहस्य जान पाऊंगा? क्या मृत्यु जानी जा सकेगी ? महात्मन् ! ये सब तो नश्वर, संतों से भी यदि नश्वर ही मिलेगा, तो शाश्वत कहां से व किससे मिलेगा?'' ''मैं देह हूं'', इस अहंभाव की मृत्यु है वास्तविक मृत्यु, यही है मौत का रहस्य। इसे चाहे श्रीगुरुचरणों में गुरु–दक्षिणा रुप में चढ़ा कर मार डालो अथवा अन्य साधनों से, इसकी मृत्यु के बाद ही शिष्य सच्ची गुरु–सेवा योग्य बन सकेगा अन्यथा संसार की सेवा न करके शिष्य अपने अहं की सेवा में ही जीवन बर्बाद कर देगा। स्वयं मिट जाने वाले गुरुमुख शिष्य, अपने गुरु को कभी मरने नहीं देते, उनके उपदेशों के अनुकरण के तथा उनके प्रचार–प्रसार के माध्यम से उन्हें सदा जीवित रखते हैं। ये शिष्य गुरु महाराज को आजीवन सच्ची गुरु दक्षिणा देते रहते हैं तथा स्वयं भी अमर हो जाते हैं। तभी सन्तों–महात्माओं ने अनुभवी कथन द्वारा सत्य कहा–''जिन राम को अपनाया, अपना आप मिटाया, तिन राम को पाया। जहां अपने आपको मिटाओगे, वहां बनाने वाला ऐसा बना देगा कि सदा बने रहोगे अर्थात कभी न मिटने वाला बना देगा।'' ऐसे सद्गुरु तथा शिष्य दोनों धन्य।